समकालीन साम्राज्यवादी दुनिया के बुनियादी अंतरविरोध: कुछ प्रेक्षण

— तपीश मैन्दोला

हम आज भी लेनिन के शब्दों में, "साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों के युग" में जी रहे हैं। लेकिन आज का साम्राज्यवाद लेनिन और माओ त्से-तुङ के युग से काफ़ी भिन्नताएँ लिये हुए है। उपनिवेशों और नवउपनिवेशों का दौर बीत चुका है। बीसवीं शताब्दी से विरासत में मिला राष्ट्रीय-औपनिवेशिक प्रश्न मूलत: और मुख्यत: हल चुका है। एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका में नव-स्वाधीन देशों के शासक वर्ग ने अपनी राजनीतिक आज़ादी का विस्तार किया है और साम्राज्यवाद के जूनियर पार्टनर की हैसियत में विश्व पूँजीवादी तंत्र का हिस्सा बन चुके हैं।

इन नवस्वाधीन देशों ने, अपनी-अपनी इतिहास प्रदत्त परिस्थितियों के अनुरूप, पूँजीवादी विकास की राह पकड़ी जिसे नवउदारवाद के दौर में नया संवेग मिला। इनमें से कई मुल्क आज पूँजी संचय के महत्त्वपूर्ण केंद्र बनकर उभरे हैं। राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध के दौर ने इन देशों की बुर्जुआजी को अन्य उत्पीड़ित वर्गों के साथ जोड़ रखा था लेकिन इस रणनीतिक संश्रय का कोई आर्थिक और राजनीतिक आधार मौजूद नहीं रह गया था।

इतिहास की गति में राष्ट्रीय-औपनिवेशिक प्रश्न के एक प्रक्रिया में हल हो जाने के साथ ही हम कह सकते हैं कि कमोबेश 1980 के दशक तक आते-आते राष्ट्रीय मुक्तियुद्धों का विश्व सर्वहारा क्रान्ति के एक अंग के रूप में विलोप हो चुका था और राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय पैमाने पर पूँजी और श्रम का अंतरविरोध, अपने वास्तविक अर्थों में सार्वभौम रूप ग्रहण कर चुका था। यह परिवर्तन एक ऐसा एक परिवर्तन है जो लेनिन और माओ कालीन साम्राज्यवाद और आज के साम्राज्यवाद के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींचता है।

सर्वहारा क्रान्ति की अवधारणा और रणनीति में परिवर्तन : मार्क्स के समय से लेनिन के समय तक

पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में नए व्यापार मार्गों और नए भूभागों की खोज ने व्यापार के अंतरराष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया को अभूतपूर्व ढंग से बढ़ाया और तदनुरूप मैन्युफैक्चरिंग को बढ़ावा मिला। इसी के साथ यूरोप द्वारा दुनिया के औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। मार्क्स ने उपनिवेशों को मैन्युफैक्चरिंग की सच्ची संतान कहा। व्यापारिक पूँजीवाद के युग में अस्तित्व में आए इन उपनिवेशों ने मैन्युफैक्चरर्स के लिए संरक्षित बाजारों की भूमिका निभाई। पूँजीवाद के विकास के साथ वाणिज्यिक हितों पर औद्योगिक हितों को प्रधानता मिलने लगी और फिर आधुनिक उद्योग के साथ वह मंजिल आई जब वाणिज्यिक हित पूरी तरह से औद्योगिक हितों के मातहत हो गए और औद्योगिक शक्ति से वाणिज्यिक शक्ति का निर्धारण होने लगा।

मार्क्स व एंगेल्स के युग में क्रान्तियों का झंझा-केन्द्र यूरोप में था। मार्क्स व एंगेल्स का मानना था कि जिन देशों में पूँजीवादी विकास और औद्योगिक विकास हुआ है, जहाँ पर एक सर्वहारा वर्ग पैदा हो चुका है, वे देश ही क्रान्ति के केन्द्र बनेंगे। लिहाज़ा यूरोप के देश क्रान्ति के झंझा-केन्द्र बनेंगे। इसका यह अर्थ कतई नहीं लगाया जाना चाहिए कि मार्क्स का ऐसा मानना था कि जो सर्वाधिक विकसित पूँजीवादी देश होंगे वहीं क्रान्तियां हो सकती हैं। मार्क्स स्पष्ट रूप से राजनीतिक अन्तरविरोधों के सन्धि-बिन्दु को क्रान्तियों का निर्धारक मानते थे और इसीलिए बजाय ब्रिटेन के मार्क्स और एंगेल्स का मूल्यांकन था कि जर्मनी और फ्रांस सर्वहारा क्रान्तियों के केन्द्र बन सकते हैं और काफी गुंजाइश होगी कि ये क्रान्तियां जल्द ही महाद्वीपीय क्रान्तियों का रूप अख्तियार कर लें। लेकिन पूँजीवाद के इजारेदारी और साम्राज्यवाद के दौर में प्रवेश करने के साथ और पूँजी के निर्यात के प्रमुख प्रवृत्ति बनने के साथ उपनिवेशवाद के ढांचे व कार्यप्रणाली अहम बदलाव आये। इसके साथ ही ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी जैसे उन्नत साम्राज्यवादी देश एशिया, अफ्रीका व लातिनी अमेरिका के देशों की औपनिवेशिक लूट के बूते अपने देश के मज़दूर आन्दोलन के नेतृत्व के और साथ ही श्वेत कॉलर मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को सहयोजित

करने में सफल हुए। इसके कारण इन देशों में मज़दूर आन्दोलन का पराभव हुआ और उसमें अवसरवाद और सामाजिक शॉविनिज़्म पैदा हुआ। इन परिवर्तनों के कारण क्रान्तियों का झंझा-केन्द्र पूर्व की ओर स्थानान्तरित होने लगा।

लेनिन ने काउत्स्की के 1902 के एक लेख 'दि स्लाव्ज़ एन्ड रेवोल्यूशन' का हवाला देते हुए बताया कि सर्वहारा क्रान्ति के प्रश्न पर एक इतिहासकार के रूप में विचार करते हुए काउत्स्की (लेनिन के शब्दों में - जब वे अभी मार्क्सवादी थे) ने क्रान्ति के केंद्र का पश्चिम से पूर्व की ओर खिसकने के महत्त्वपूर्ण तथ्य को रेखांकित किया था। काउत्स्की ने लिखा था, *"यह देखा जा सकता है कि स्लाव लोग न केवल क्रान्तिकारियों की पाँतों में शामिल हो चुके हैं, बल्कि वे अधिकाधिक क्रान्तिकारी चिंतन और क्रान्तिकारी कार्रवाइयों के केंद्र में आ रहे हैं। क्रान्तिकारी केंद्र पश्चिम से पूर्व की ओर खिसक रहा है। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में क्रान्ति का केंद्र फ्रांस में था, या कभी-कभार इंग्लैण्ड में था। वर्ष 1848 में जर्मनी भी क्रान्तिकारी राष्ट्रों की पाँतों में शामिल हुआ ... नई सदी ऐसी घटनाओं के साथ आरंभ हुई है, जो यह संकेत दे रही हैं कि क्रान्ति का केंद्र थोड़ा और खिसक रहा है और रूस में पहुँच रहा है ..."*[1]

19वीं सदी के अंत में पूँजीवाद विकसित होकर अपनी उच्चतम अवस्था साम्राज्यवाद में बदल गया। एकाधिकारी पूँजीवाद के इस दौर में वित्त पूँजी और एकाधिकारी पूँजीवाद के दौर की औपनिवेशिक नीति का उदय इसकी प्रमुख अभिलाक्षणिकताएँ थीं। इस औपनिवेशिक नीति ने विश्व के पुनर्विभाजन के लिए युद्धों को अनिवार्य बना दिया। यह अनायास नहीं था कि एकाधिकारी पूँजीवाद के उदय काल, 1870-1900 के बीच यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों ने अपने अधिकृत क्षेत्र में 51% की बढ़ोत्तरी की और इसके साथ ही अपने बीच दुनिया का विभाजन पूर्ण कर लिया। अब इसका पुनर्विभाजन युद्ध के बिना सम्भव नहीं था।

मुक्त व्यापार पूँजीवाद से इज़ारेदार पूँजीवाद में संक्रमण के लेनिन के विश्लेषण ने कम्युनिस्ट आंदोलन में सर्वहारा क्रान्ति और उसकी रणनीति आदि के बारे में पूरा दृष्टिकोण बदल दिया। वित्तीय पूँजी के उभार के साथ पूँजीवादी उत्पादन के अभूतपूर्व समाजीकरण, पूंजी के सान्द्रण व संकेंद्रण, एकाधिकारी पूँजी व पूँजी के निर्यात के साथ विश्व अर्थव्यवस्था का एक नये रूप में समेकन हुआ। इस समेकन के साथ एक विश्व साम्राज्यवादी तंत्र अस्तित्व में आया जिसका चरित्र एक श्रृंखला जैसा है। लेनिन ने स्पष्ट किया ज़्यादा संभावना है कि यह श्रृंखला वहां से टूटे जहां वह सबसे कमज़ोर है, यानी 'कमजोर कड़ी' पहले टूटने की गुंजाइश ज़्यादा है। स्तालिन लिखते हैं, *"लेनिनवादी कहते हैं: **नहीं; कोई ज़रूरी नहीं कि क्रान्ति पहले पहल वहीँ सफल हो जहाँ उद्योग-धंधे अधिक विकसित हो चुके हैं** आदि। पूँजी का मोर्चा तो पहले वहाँ टूटेगा जहाँ साम्राज्यवाद की ज़ंजीर सबसे कमज़ोर है। क्योंकि सर्वहारा क्रान्ति विश्वव्यापी साम्राज्यवादी मोर्चे की ज़ंजीर की सबसे कमजोर कड़ी के टूटने का ही परिणाम है। इसलिए हो सकता है कि वह देश जहाँ से क्रान्ति आरंभ हुई, जहाँ पर पूँजी का मोर्चा तोड़ दिया गया है, दूसरे अधिक विकसित देशों की तुलना में पूँजीवादी विकास की दृष्टि से पिछड़ा हुआ हो। और हो सकता है कि इस पिछड़े हुए देश में क्रान्ति सफल हो जाए और उससे अधिक विकसित देश पूँजीवादी चौखटे में ही कैद रह जाएँ।"*[2]

अक्तूबर क्रान्ति ने इन लेनिनवादी आकलनों का शानदार सत्यापन किया। रूस विश्व साम्राज्यवाद की वह कमजोर कड़ी साबित हुआ, जो कि पहली समाजवादी क्रान्ति का केन्द्र बनी। रूसी क्रान्ति की इस विशिष्टता के बारे में लेनिन ने लिखा, *"यह अत्यंत स्वाभाविक था कि क्रान्तिकारी संकट का **सबसे पहला** विस्फोट ज़ारशाही रूस में हो, जहाँ अव्यवस्था भयावह रूप में मौजूद थी और जहाँ सर्वहारा वर्ग सर्वाधिक क्रान्तिकारी था (अपनी किन्हीं खास विशेषताओं के कारण नहीं, बल्कि 1905 की जीवित परंपराओं के कारण) ... क्रान्ति का ऐसी तेज़ी और — सरसरी निगाह डालने पर — ऐसी उग्रता के साथ सफल होने का एकमात्र कारण था उस अभूतपूर्व ऐतिहासिक परिस्थिति का पैदा होना जिसने **नितांत बेमेल धाराओं, नितांत असंबद्ध** वर्ग हितों, **नितांत असंगत** राजनीतिक और सामाजिक प्रयासों को असाधारण रूप से 'सामंजस्यपूर्ण' तरीके से **एकरूप** कर दिया था।"*[3]

लेनिन ने राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों को विश्व समाजवादी क्रान्ति के महत्त्वपूर्ण अंग के तौर पर देखा। उन्होंने बताया: *'एशिया का जागरण और यूरोप के अग्रगामी सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता के लिए संघर्ष का आरंभ इस शताब्दी की शुरुआत के विश्व इतिहास के नए दौर का प्रतीक है"*[4] और कि *"... राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सम्पूर्ण*

नीति ज़मींदारों और बुर्जुआजी को सत्ताविहीन करने के लिए चलने वाले एक संयुक्त क्रान्तिकारी संघर्ष के निमित्त साधारणतया सभी राष्ट्रों और देशों के सर्वहाराओं और श्रमिक जनता के सुदृढ़ संगठन पर ही निर्भर रहनी चाहिए...''[5]
राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्न के बारे में कोमिन्टर्न की कांग्रेस के द्वारा स्वीकृत थीसिस में इस बात पर जोर दिया गया कि कम्युनिस्टों को उन सभी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों का समर्थन करना चाहिए जो सारतः क्रान्तिकारी आंदोलन हैं[6] और साम्राज्यवाद के पतन में योगदान देते हैं। कोमिन्टर्न ने सर्वहारा आंदोलन और उपनिवेशों तथा पिछड़े देशों के किसानों के क्रान्तिकारी आंदोलन के बीच सहयोग की स्थापना पर बल दिया, दूसरी कांग्रेस के तुरंत बाद कोमिन्टर्न ने 'दुनिया के मजदूरों और उत्पीड़ित लोगों एक हो!' का नारा दिया। सितंबर 1920 में पूरब के राष्ट्रों की बाकू में एक विशेष कांग्रेस बुलाई गई। कांग्रेस ने यूरोपीय और अमेरिकी सर्वहाराओं के नाम जारी एक अपील में कहा: "हमारी एकता हमारी अजेय शक्ति का प्रतीक है। हम एक दूसरे को रोटी और कपड़ा दे सकते हैं, हम एक दूसरे की मदद में लड़ाकों की वह फ़ौज उतार सकते हैं जिसमें हरेक स्वतंत्रता की भावना से जाज्वल्यमान हो."[7]

वर्ष 1921 के आरंभ तक आते-आते अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ बदलने लगी थीं। एक ओर, नव स्थापित सोवियत सत्ता ने विश्व प्रतिक्रियावाद के सशस्त्र हमले का सफलतापूर्वक मुकाबला किया था तो दूसरी ओर, पूँजीवादी देशों के क्रान्तिकारी संघर्षों में सापेक्षिक ठहराव के लक्षण प्रकट होने लगे थे। कोमिन्टर्न की चौथी कांग्रेस ने उपनिवेशों तथा पराधीन देशों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के अनुभवों का सार संकलन करते हुए साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा कायम करने का नारा दिया और इन देशों में साम्राज्यवाद और सामंतवाद विरोधी जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम तैयार किया।

बोल्शेविक पार्टी की 14वीं कांग्रेस में प्रस्तुत राजनीतिक रिपोर्ट में तत्कालीन विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के पाँच बुनियादी अंतरविरोधों की चर्चा करते हुए कहा गया कि पूँजीवाद प्रथम विश्व युद्ध द्वारा पैदा की गई अराजकता से उबर रहा है और उसने सापेक्षिक स्थिरता ग्रहण कर ली है, कि पश्चिमी यूरोप में उठी क्रान्ति की लहर अब ढलान पर है और उपनिवेशों में अधिकाधिक गहराते हुए क्रान्तिकारी संकट साम्राज्यवाद के लिए घातक होते जा रहे हैं। कांग्रेस द्वारा चिह्नित सूत्रवत् पाँच अंतरविरोध[8] निम्नवत थे –

- *''पहला अंतरविरोध वह है जो पूँजीवादी देशों में बुर्जुआ और सर्वहारा वर्गों के बीच मौजूद है,*
- *दूसरा अंतरविरोध वह है जो साम्राज्यवाद और उपनिवेशों तथा अधीनस्थ देशों में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलनों के बीच मौजूद है।*
- *तीसरा अंतरविरोध वह है जो युद्ध में विजयी राष्ट्रों और पराजित राष्ट्रों के बीच निरंतर मौजूद है जिसका विकसित होना लाज़िमी है।*
- *चौथा अंतरविरोध वह है जो युद्ध में विजयी राष्ट्रों के बीच निरंतर मौजूद है और इसका विकसित होना लाजिमी है।*
- *पाँचवां अंतरविरोध वह है जो समग्रता में समाजवादी भूमि और पूँजीवाद के बीच मौजूद है.''*[9]

कमोबेश 1920 के दशक के अन्त तक क्रान्तिकारी तूफानों का केंद्र पूरब की ओर कुछ और खिसक चुका था।

लेनिन के नेतृत्व में कोमिन्टर्न द्वारा 1910 के दशक के अन्त में विकसित अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की आम दिशा पर पहला बड़ा हमला, सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के साथ ही, ख्रुश्चेव के द्वारा किया गया। उसने 'तीन शांतिपूर्ण' के सिद्धांतों की आड़ में दुनियाभर के कम्युनिस्टों को अपने संघर्षों को विसर्जित करने की सलाह दी। उसने विश्व पूँजीवाद के अंतरविरोधों के क्रान्ति के जरिये समाधान के लेनिनवादी सिद्धांत को तिलांजलि दे दी और "शांतिपूर्ण सहअस्तित्व", "शांतिपूर्ण प्रतियोगिता" और "शांतिपूर्ण संक्रमण" का संशोधनवादी सिद्धांत प्रतिपादित किया।

ख्रुश्चेव के संशोधनवाद के विरुद्ध चले विचारधारात्मक संघर्ष में, माओ के नेतृत्व में चीन की पार्टी ने अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की आम दिशा संबंधी लेनिनवादी उसूलों की हिफ़ाज़त की। सोवियत संशोधनवादियों के जवाब में चीन की पार्टी के 14 जून, 1963 के एक पत्र 'अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की आम दिशा के बारे में एक सुझाव', के बिंदु चार में स्पष्ट लिखा गया, *''अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की आम दिशा बनाते समय प्रारंभ यहाँ से होना चाहिए कि विश्व राजनीति व विश्व अर्थनीति का समूचे रूप में तथा वास्तविक विश्व-स्थिति का, यानी वर्तमान विश्व के बुनियादी अंतरविरोधों*

का ठोस वर्ग-विश्लेषण किया जाए.''[10] यहीं पर उस समय के चार बुनियादी अंतरविरोधों को गिनाते हुए लिखा गया, *''वर्तमान विश्व के बुनियादी अंतरविरोध कौन से हैं? मार्क्सवादी-लेनिनवादी सदा यह मानते आए हैं कि वे इस प्रकार हैं:*

- *समाजवादी खेमे और साम्राज्यवादी खेमे के बीच का अंतरविरोध;*
- *पूँजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच का अंतरविरोध;*
- *उत्पीड़ित राष्ट्रों और साम्राज्यवाद के बीच का अंतरविरोध;*
- *तथा साम्राज्यवादी देशों के बीच के और इजारेदार पूँजीपति गुटों के बीच के अंतरविरोध.''*[11]

इसी पत्र में बिंदु 8 के तहत बताया गया:

''वर्तमान विश्व के विभिन्न प्रकार के अंतरविरोध एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के विशाल क्षेत्रों में केंद्रित हैं। ये क्षेत्र साम्राज्यवादी शासन के अधीन सबसे ज़्यादा नाजुक क्षेत्र हैं तथा विश्व क्रान्ति के ऐसे झंझा-केंद्र हैं, जो साम्राज्यवाद पर सीधा प्रहार करते हैं।

इन क्षेत्रों के राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तिकारी आंदोलन तथा अंतरराष्ट्रीय समाजवादी क्रान्तिकारी आंदोलन ये दोनों ही हमारे युग की दो महान ऐतिहासिक धाराएँ हैं.''[12]

ख्रुश्चेव के संशोधनवाद पर हमला करते हुए लिन प्याओ ने सितंबर 1965 के एक लंबे लेख 'लोक युद्ध की विजय अमर रहे' में लिखा, *''ख्रुश्चेवी संशोधनवाद की आम दिशा का सार सिवाय इस मांग के कुछ और नहीं है कि दुनिया के सभी उत्पीड़ित जन और राष्ट्र तथा वे सभी देश जिन्होंने आज़ादी हासिल कर ली है, अपने हथियार डाल दें और अमेरिकी साम्राज्यवाद तथा उसके पिट्ठुओं के सामने घुटने टेक दें जो सिर से पांव तक हथियारबंद हैं.''*[13] अपने इसी लेख की भूमिका में लिन ने बताया, *''चीनी जनता के लोकयुद्ध की विजय ने पूर्व में साम्राज्यवाद के मोर्चे को भेद दिया, इसने विश्व शक्ति संतुलन में महान परिवर्तन किया और सभी देशों के क्रान्तिकारी आंदोलन को तेज कर दिया.''*[14] वे कहते हैं, *''अंतिम निष्कर्ष के तौर पर, विश्व क्रान्ति का दारोमदार एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका में चल रहे मुक्ति संघर्षों पर है, जहाँ दुनिया की अधिसंख्य आबादी रह रही है। समाजवादी देशों का यह अंतरराष्ट्रीय दायित्व बनता है कि वे एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका में चल रहे जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों का समर्थन करें.''*[15]

माओकाल तक चीन की पार्टी लेनिनकालीन विश्व समाजवादी क्रान्ति की आम दिशा पर दृढ़ता पूर्वक अमल करती रही, पार्टी कांग्रेसों के दस्तावेजों में, मसलन 9वीं कांग्रेस में,[16] इस नीति की निरंतरता को देखा जा सकता है। इन दस्तावेजों में विश्व पैमाने पर साम्राज्यवादी देशों के बीच के आपसी अंतरविरोधों और सामाजिक साम्राज्यवादी देश सोवियत संघ के बीच तथा विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के बीच के अंतरविरोधों को रेखांकित किया गया है जो उस समय की स्थितियों का उचित संज्ञान लेता है।

सार संक्षेप करते हुए हम कह सकते हैं कि मुक्त प्रतियोगिता काल वाले पूँजीवाद के साम्राज्यवाद में संक्रमण के परिणामस्वरूप लेनिन और फिर माओ के नेतृत्व में विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन ने सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति व आम रणकौशल में महत्वपूर्ण बदलाव किये। लेनिनकालीन साम्राज्यवाद के इस दौर में एकाधिकारी वित्त पूँजी के उदय और तदनुरूप साम्राज्यवादी औपनिवेशिक नीति के कारण विश्व पूँजीवाद के अन्तरविरोधों का केन्द्र-बिन्दु अब एशिया, अफ्रीका व लातिन अमेरिका के देश बन चुके थे और इस रूप में पूरा विश्व ही सर्वहारा क्रान्ति के महासमर का रंगमंच बन गया।

औपनिवेशिक एवं नवऔपनिवेशिक प्रणाली का विघटन

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अस्तित्व में आई दुनिया उसके पहले की दुनिया से एकदम अलग थी। साम्राज्यवादी शक्तियों के अंतर्संबंध रूपांतरित हो चुके थे और सापेक्षिक शक्ति संतुलन बदल चुका था। राष्ट्रीय मुक्तियुद्ध की धारा जो सतत प्रवहमान थी अब ऐसी शक्तिशाली प्रचंड धारा के रूप में प्रकट हुई जो भविष्य में औपनिवेशिक व्यवस्था को बहा देने वाली थी और साम्राज्यवाद की चूलें हिल जाने वाली थीं।

विश्वयुद्ध के समाप्त होने तक एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देश अभी भी औपनिवेशिक शासन के अधीन थे। युद्ध-पूर्व ब्रिटेन प्रमुख औपनिवेशिक शक्ति रहा था, जबकि फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, इटली और अन्य यूरोपीय देश भी कमोबेश संख्या में उपनिवेशों के मालिक थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वयं औपनिवेशिक मालिकों की स्थिति घटकर दूसरे दर्जे की शक्तियों जैसी या उससे भी बुरी हो गई थी। केवल अमेरिका ही विश्व के विध्वंस से बच निकला था। युद्ध में उत्पादक शक्तियों का विनाश से बच निकलने और युद्ध आवश्यकताओं की पूर्ति में सन्नद्ध कर दिए जाने के कारण अमेरिकी उद्योग फल-फूल रहे थे। इसके साथ ही युद्ध से ध्वस्त यूरोप और जापान के रूप में युद्ध ने अमेरिकी पूँजी के विस्तार की नई संभावनाएँ पैदा कर दी थीं। इस आर्थिक यथार्थ और शक्ति संतुलन को 1944 के ब्रेटन-वुड्स समझौते में संहिताबद्ध किया गया।

उपनिवेशों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के सच्चे मित्र और वास्तविक समर्थक के रूप में एक शक्तिशाली समाजवादी खेमा उभर कर सामने आ गया था। इसके साथ ही साम्राज्यवादी दुनिया के नये चौधरी अमेरिका के भी हित में था कि ये देश ब्रिटेन तथा दूसरी औपनिवेशिक शक्तियों से आज़ाद हो जाएँ और इस प्रकार अमेरिकी वित्तीय पूँजी के प्रवेश के लिए नए दरवाज़े खुल जाएँ। यह सारे सूत्र एक में जुड़ गए और राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का शक्तिशाली तूफान फूट पड़ा। निश्चित तौर पर भिन्न-भिन्न देशों में ऐसे संघर्ष की प्रकृति एक समान नहीं थी। कुछ देशों में साम्राज्यवाद के साथ विभिन्न रूपों में और अलग-अलग हदों तक समझौते किए गए, जबकि अन्य देश निरंतर साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्तिकारी संघर्ष के रास्ते पर चलते रहे। समग्रता में राष्ट्रीय मुक्तियुद्धों ने उस प्रक्रिया की शुरुआत कर दी थी जिसने अंततोगत्वा औपनिवेशिक तंत्र को जड़ से उखाड़ फेंका और साम्राज्यवादी व्यवस्था को कमज़ोर कर दिया।

यह प्रक्रिया कमोबेश 1947 में भारत के स्वतंत्रता प्राप्त करने के साथ शुरू हुई थी। बर्मा और श्रीलंका 1948 में स्वतंत्र हुए। इंडोनेशिया ने 1949 में और लीबिया ने 1951 में स्वतंत्रता हासिल की तथा 1952 में मिस्र में साम्राज्यवाद विरोधी एवं राजतंत्र विरोधी तख्तापलट हुआ। 1951 में ईरान में राजतंत्र को उखाड़ फेंका गया और गणतंत्र के प्रधानमंत्री के तौर पर मुसद्दक ने निर्भीकतापूर्वक साम्राज्यवाद विरोधी रास्ता अपनाया। यद्यपि सीआईए द्वारा रचे गए प्रतिक्रियावादी सत्तापलट के द्वारा सत्ताच्युत कर देने के कारण यह शासन अल्पकालिक ही रहा। बहुत सारे दूसरे उपनिवेशों में भी संघर्ष चल रहे थे। सूडान, मोरक्को और ट्यूनिशिया 1956 में आज़ाद हुए जबकि घाना, मलेशिया और पश्चिमी सहारा ने 1957 में आज़ादी हासिल की।

जब तक केवल कुछ उपनिवेशों ने आज़ादी हासिल की थी और औपनिवेशिक व्यवस्था मुख्यत: कायम थी, तब तक अधिकांश उपनिवेशों द्वारा हासिल की गई राजनीतिक आज़ादी की कुछ सीमाएं बनी रहीं, वहीं कुछ ऐसे भी नवस्वाधीन देश भी थे जिन्होंने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता पर ज़ोर दिया लेकिन अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में तत्कालीन विश्व परिस्थितियों के मद्देनज़र मैन्युवर करने की उनकी क्षमताएं बेहद सीमित थीं । लेकिन जब बड़ी संख्या में उपनिवेश प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन की बेड़ियों से मुक्त हुए तब औपनिवेशिक तंत्र के लिए सांघातिक ख़तरा उत्पन्न हो गया और साम्राज्यवादी व्यवस्था कमज़ोर हुई। नव-स्वाधीन देशों ने एक-दूसरे के साथ संबंध स्थापित किए और एक-दूसरे को समर्थन दिया। आपसी सहकार एवं एकजुटता को बढ़ाते, अंतरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का लाभ उठाते और अलग-अलग समयों पर अलग-अलग तरीकों से और विभिन्न परिमाणों में आयात प्रतिस्थापन औद्योगिकीकरण के रास्ते अपने औद्योगिक आधारों का विस्तार करते हुए, नव-स्वाधीन देशों ने पूँजीवादी विकास का एक विशिष्ट पथ अपनाया, जिसमें कि अलग-अलग देशों ने अपने ऐतिहासिक सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक स्थिति के अनुसार राजकीय पूँजीवाद और निजी पूँजीवाद का अलग-अलग रूप व अनुपात में मिश्रण किया और विदेशी पूँजी के लिए अलग-अलग हदों तक अपने दरवाज़े खोले। एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के देशों द्वारा राजनीतिक आज़ादी हासिल करने और उसे कायम रखने के संघर्ष में समाजवादी खेमे का नैतिक एवं भौतिक समर्थन एक अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान था। 1955 में एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों का 'बांदुंग सम्मेलन (Bandung Conference)' हुआ। इस सम्मेलन ने एशिया और अफ्रीका के इन देशों की एकजुटता को और आज़ादी को बरकरार रखने की उनकी आकाँक्षाओं को अभिव्यक्ति दी। चीनी लोक गणराज्य के साथ इंडोनेशिया, मिस्र, भारत और एशिया-अफ्रीका के दो दर्जन से अधिक राष्ट्र इस सम्मेलन में शामिल हुए। 1956 में नासिर के शासन में मिस्र ने ब्रिटेन और फ्रांसीसी

साम्राज्यवादियों की पूर्ण अवज्ञा करते हुए स्वेज नहर का राष्ट्रीकरण कर दिया। एक तरफ अंतरसाम्राज्यवादी अंतरविरोधों और दूसरी तरफ समाजवादी खेमे से मिलने वाले समर्थन ने मिस्र को ब्रिटिश और फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों का दबाव झेलने में मदद की जिन्होंने अपनी फौजें वहाँ भेजकर उनके लिए सीधा ख़तरा पैदा कर दिया था।

1960 में नाइजीरिया, सोमालिया, कांगो, चाड, सेनेगल, माली आदि 17 अफ्रीकी देश स्वतंत्र हुए। तंजानिया और सिएरा लिओन ने 1961 में, युगांडा, अल्जीरिया और पाँच अन्य देशों ने 1962 में, केन्या ने 1963 में, ज़ांबिया, माल्टा और मलावी ने 1964 में, गांबिया और ब्रुनेई ने 1965 में, बोत्सवाना, लेसोथो, बारबडोस ने 1966 में आज़ादी हासिल की। घाना 1957 में पहले ही आज़ाद हो चुका था। यह दौर क्वामे एन्क्रूमा, बेन बेला-बूमेदियेन, पैट्रिस लुमुंबा, न्येरेरे, नासिर, सुकर्ण, अमिल्कल कबराल, केनेथ काउण्डा आदि, जैसे इतिहास-प्रसिद्ध राष्ट्रीय नायकों का दौर था जिनके नेतृत्व में लड़े गए साम्राज्यवाद विरोधी मुक्ति संघर्षों में जनता ने अप्रतिम शौर्यपूर्ण बलिदान दिए और अपनी आज़ादी हासिल की। इराक़ में 1958 में एक साम्राज्यवाद विरोधी राजतंत्र विरोधी तख्तापलट हो चुका था। सीरिया में 'राष्ट्रवादी बाथ पार्टी' ने 1966 में अपनी शक्ति का सुदृढ़ीकरण कर लिया। 'फिलिस्तीन मुक्ति संगठन' 1964 में बना और 1968 के बाद इसने अपनी मातृभूमि को मुक्त कराने के लिए संघर्ष तेज़ कर दिया।

इसके साथ ही नव-स्वाधीन देशों का आपसी सहयोग और एकजुटता भी आगे बढ़ी। 1961 में 'बेलग्रेड सम्मेलन' में गुटनिरपेक्ष आंदोलन का सूत्रपात हुआ। 'अफ्रीकी एकता संगठन' 1963 में बना। इस प्रकार सद्य: प्राप्त राजनीतिक आज़ादी के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया जारी रही।

तीसरी दुनिया के नव-स्वाधीन देशों के शासक वर्ग विश्व पूँजीवादी व्यवस्था की सीमाओं के भीतर रहते हुए साम्राज्यवादी देशों के दबाव से अपने आपको मुक्त करने के लिए लगातार प्रयासरत रहे और अपने आर्थिक विकल्पों का ज़्यादा से ज़्यादा विस्तार करने की निरंतर कोशिश करते रहे। उन्होंने विभिन्न स्तरों पर परस्पर एकता कायम की, अपनी सौदेबाज़ी की सामूहिक शक्ति बढ़ाई तथा साम्राज्यवादी देशों के आर्थिक संकट और अंतरसाम्राज्यवादी होड़ का अपने लाभ के लिए इस्तेमाल किया। G-77 समूह और विभिन्न प्रकार के ऐसे क्षेत्रीय आर्थिक राजनीतिक मंच अस्तित्व में आए जिन पर एकत्र होकर एशिया, अफ्रीका लातिन अमेरिका के देश साम्राज्यवादी देशों के साथ अधिक प्रभावी रूप से मोलभाव करते थे। उन्होंने एक 'नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' (New International Economic Order) की जोरदार माँग प्रस्तुत की ताकि विश्व स्तर पर अतिरिक्त मूल्य के विनियोजन की वर्तमान प्रणाली बदली जा सके और इन देशों के शासक वर्ग पहले की अपेक्षा केक का ज़्यादा बड़ा हिस्सा हासिल कर सकें। 'नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की अपनी माँग में तीसरी दुनिया के इन देशों को सोवियत खेमे का समर्थन मिला। ये देश अब विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अपनी स्थिति सापेक्षिक रूप से सुदृढ़ कर चुके थे और इस स्थिति में थे कि विश्व पूँजीवाद के ढांचे के पुनर्गठन से लाभान्वित होते। यहाँ तक कि साम्राज्यवादी विश्व के कुछ अपेक्षतया कमज़ोर देश जैसे ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और स्कैंडिनेवियाई देश भी इस तरह के पुनर्गठन के पक्ष में थे। सामूहिक सौदेबाज़ी की यह प्रक्रिया आगे विकसित हुई। इसी कड़ी में एक अन्य महत्वपूर्ण विकास 1980 में हुआ जब 'लातिन अमेरिकी एकीकरण संगठन' (Latin American Integration Association) कायम हुआ।

पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था इतिहास के रंगमंच से तिरोहित होते जाने के साथ अमेरिका ने लातिन अमेरिका में तमाम देशों में नवऔपनिवेशिक सत्ताओं को स्थापित किया और अन्य नवस्वाधीन देशों में भी उसने ऐसी महत्वपूर्ण कोशिशें कीं लेकिन ईरान, फिलिप्पींस जैसे कुछ देशों को छोड़ दें तो उसे कहीं अधिक सफलता नहीं मिली। 1970 के दशक में उपनिवेशवाद के तेज़ी से खात्मे के साथ ही नवउपनिवेशवादी सत्ताओं के पतन का दौर भी तेज़ी से शुरू हो गया। लातिन अमेरिका में नव-उपनिवेश एक लंबे समय से मौजूद रहे थे। लेकिन 1970 का दशक उनके लिए अन्तकारी सिद्ध हो रहा था। क्यूबा में 1959 में बतिस्ता की सत्ता को क्यूबा की क्रान्ति ने धूल में मिला दिया। 1979 में अमेरिकी साम्राज्यवाद की महत्त्वपूर्ण छावनी, ईरान के शाह की सत्ता को व्यापक जनउभार की लहर बहा ले गई और इसी वर्ष निकारागुआ में सान्दिनिस्ता क्रान्ति ने सोमोजा की तानाशाही को ख़त्म कर दिया। इसके अलावा अल सल्वाडोर, ग्वाटेमाला, होंडूरास, कोलंबिया, पेरू आदि देशों में संघर्ष उग्र हो उठे। 1986 में फ़िलीपीन्स में मार्कोस की सत्ता और इसी वर्ष हैती में दुवालियर की

सत्ता को जनता द्वारा इतिहास की कचरा पेटी में पहुँचाने के साथ ही नव-औपनिवेशिक तंत्र के विघटन का दौर कमोबेश पूरा हो गया । इस दौर ने अमेरिकी साम्राज्यवाद के सामने नई चुनौतियाँ पेश कर दी थीं। हिंद-चीन में पराजय, मंदी की वापसी, ओपेक देशों द्वारा तेल की कीमतों में वृद्धि की संयुक्त कार्रवाई और उसी दौर में डॉलर-स्वर्ण मानक का टूटना तथा जर्मनी, जापान और सामाजिक साम्राज्यवाद से मिलती चुनौतियों में उभार ने साबित कर दिया कि विश्व साम्राज्यवाद के अनतरविरोध गहरा रहे हैं और संकटों के एक नये दौर की शुरुआत हो चुकी है।

नव-स्वाधीन देशों में उभरता पूँजीवाद

एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिकी देशों में उत्तर-औपनिवेशिक काल में हुए पूँजीवादी विकास बेहद जटिल, उतार-चढाव भरा एवं असमान रहा है। यहाँ के कमोबेश सभी देशों में पूँजीवादी विकास हो चुका है। भारत, मिस्र, अर्जेंटीना, ब्राज़ील, दक्षिण अफ्रीका, मेक्सिको, चिली आदि जैसे मुल्कों में औपनिवेशिक और नवऔपनिवेशिक काल से ही पूँजीवादी विकास की निरंतरता थी और औपनिवेशिक गुलामी से आज़ादी के बाद यहाँ एक विविधीकृत अर्थव्यवस्था अस्तित्व में आई जहाँ बुनियादी उद्योग और अवरचनागत ढाँचे के विकास के साथ ही कृषि में भारी पूँजीवादी विकास हुआ। आज इनमें से कई मुल्क पश्चिमी यूरोप के मुकाबले सापेक्षतः पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले पूँजीवादी मुल्क होते हुए भी तीसरी दुनिया के अग्रणी देश बन गए हैं। आलेख के इस हिस्से में, इन जटिलताओं में जाए बिना मैं एशिया में भारत का प्रातिनिधिक उदाहरण लेते हुए और अफ्रीका तथा लातिन अमेरिका में हुए पूँजीवादी विकास की आम दिशा की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने तक स्वयं को सीमित रखूँगा।

भारत

प्राक् ब्रिटिश भारत में पूँजीवादी विकास के जो भी उपादान मौजूद थे उन्हें ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने सुनियोजित तरीके से नष्ट करके भारतीय समाज पर एक औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित की। भारतीय पूँजीवाद का उद्भव और विकास इसी आरोपित सामाजिक-आर्थिक संरचना के गर्भ से हुआ। विभिन्न ऐतिहासिक कारणों और उद्भव की विशिष्टताओं के कारण भारतीय पूँजीपति वर्ग पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को क्रान्तिकारी तरीके से पूरा करने में सर्वथा अक्षम था।

1947 से 1950 तक का दौर एक ऐसा संक्रमण काल था जिसमें भारतीय पूँजीपति वर्ग ने अपनी राजनीतिक सत्ता के सुदृढ़ीकरण के साथ-साथ अपनी ज़रूरतों के अनुरूप पूँजीवादी विकास के मार्ग को ठोस एवं सुनिश्चित स्वरूप दिया। उसने अपनी आम आर्थिक नीतियों तथा औद्योगिक विकास एवं भूमि सुधार की नीतियों को तय किया और भारत के बुर्जुआ जनवाद की जो भी विकृतियाँ और सीमाएँ थीं उसी के अनुसार एक संविधान का निर्माण किया।

प्रारंभिक पूँजी संचय की अपनी सर्वाधिक गंभीर समस्या को विदेशी पूँजी के बेरोकटोक आयात द्वारा हल करने में भारतीय पूँजीपति वर्ग को यह ख़तरा था कि उसे अपनी हाल ही में हासिल हुई राजनीतिक आज़ादी खोनी पड़ सकती थी, इसीलिए उसने सोच-समझकर और तत्कालीन परिस्थितियों का लाभ उठाकर नियंत्रित पूँजी आयात की नीति अपनाई। उस समय भारतीय उद्योग-धंधे इतने सीमित थे कि उनके द्वारा उत्पादित अतिरिक्त मूल्य विस्तारित पुनरुत्पादन और पूँजी संचय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपर्याप्त था। देश का बाजार यहाँ के पूँजीपति वर्ग के हाथ में तो था पर वह बहुत सीमित था। इस समस्या को हल करने के लिए भारतीय राज्य ने सार्वजनिक क्षेत्र, निजी क्षेत्र और संयुक्त क्षेत्र की नीति अपनाई। इस प्रकार भारतीय पूँजीपति वर्ग ने सीमित औद्योगिक और वित्तीय आधारों के कारण अपने तात्कालिक एवं दूरगामी हित साधने के लिए राजकीय इजारेदार पूँजी के तंत्र के निर्माण और विनियमन का कार्य अपने हाथ में ले लिया।

सच्चाई तो यह है कि भारतीय पूँजीपति वर्ग ने पूँजीवादी विकास की जिस आम दिशा को अपनाया उसकी नींव आज़ादी मिलने से पहले ही पड़ चुकी थी। 1944 में सात प्रमुख भारतीय उद्योगपतियों की पहलकदमी पर 'बॉम्बे प्लान' का प्रस्ताव आया। हालाँकि इस दस्तावेज़ को कभी भी आधिकारिक रूप से स्वीकार नहीं किया गया लेकिन यह दस्तावेज

निर्विवाद रूप से भावी भारतीय राज्य की आर्थिक नीति की आम दिशा को स्पष्ट अभिव्यक्ति दे रहा था। 'बॉम्बे प्लान' की दो आधारभूत मान्यताएँ थीं: 1) निजी क्षेत्र देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक पूँजी निवेश करने में अक्षम है अतः सरकार को निवेश करना चाहिए, 2) विदेशी निवेश को यथासंभव न्यूनाधिक स्तर पर रखा जाना चाहिए। 1948 के 'इंडस्ट्रियल पॉलिसी रेज़ोल्यूशन' में निजी व सरकारी क्षेत्र के बीच अर्थव्यवस्था का बँटवारा किया गया। आधारभूत उद्योगों को सरकारी एकाधिकार के लिए आरक्षित कर दिया गया तथा अन्य को निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया।

निजी और सार्वजनिक क्षेत्र की औद्योगिक और वित्तीय पूँजी द्वारा अपने बाज़ार के राष्ट्रव्यापी विस्तार के लिए गाँव के प्राक्-पूँजीवादी ढाँचे को रूपांतरित करके उसे एक राष्ट्रीय बाज़ार के मातहत ला खड़ा करना और ग्रामीण जनता को मध्ययुगीन प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के दायरे से बाहर लाकर माल उत्पादन की अर्थव्यवस्था के अधीन बना लेना भारतीय पूँजीपति वर्ग की आवश्यकता थी और उसने ऐसा ही किया। इसके लिए पहला ज़रूरी काम था पूँजीवादी भूमि सुधार। इस काम को 1950 के दशक की शुरुआत से ही भारतीय पूँजीपति वर्ग ने अपनी क्षमता और चरित्र के अनुसार गैर-क्रान्तिकारी तरीके से पूरा करना प्रारंभ कर दिया था। पूँजीवादी भूमि क्रान्ति के प्रशियाई मार्ग के भारतीय संस्करण के तहत सामंती भूस्वामियों के बड़े हिस्से को नए प्रकार के पूँजीवादी भूस्वामियों के रूप में बदलने का मौका दिया गया। सामंती भूस्वामियों तथा धनी एवं खुशहाल मध्यम काश्तकारों एवं रैयतों के बीच से नए प्रकार के मालिक किसानों का एक वर्ग पैदा हुआ जो गाँव में पूँजी की सत्ता और प्रतिक्रिया के प्रमुख आधार के रूप में लगातार मज़बूत होता चला गया।

1960 के दशक में खेती में उच्च उत्पादकता वाले बीज, उर्वरक और आधुनिक उपकरणों के उपयोग को बढ़ावा देने के लिए कई कदम उठाये गए। 'हरित क्रान्ति', 'श्वेत क्रान्ति' और 'गुलाबी क्रान्ति' ने कृषि और ग्रामीण क्षेत्र में पूँजीवादी विकास को तेज़ रफ़्तार से आगे बढ़ाया। वित्त पूँजी की पैठ को गाँव-गाँव तक पहुँचाने के मकसद तथा जनता की छोटी-छोटी बचतों को इकट्ठा कर पूँजीवादी विकास की रफ़्तार को बढ़ाने के मकसद से बैंकों का राष्ट्रीकरण किया गया। इसने धनी किसानों तक आसान ऋण की उपलब्धता को काफ़ी हद तक बढ़ा दिया वहीं दूसरी ओर देशी पूँजीवादी घरानों को भारी ऋण देकर अपने पैरों पर खड़ा करने में सहायता की गयी।

भारतीय सामाजिक संरचना को मुख्य रूप से एक अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक संरचना मानने वालों के अनुसार जो कारण हमें भारतीय सामाजिक संरचना को अर्द्धसामन्ती मानने की ओर ले जाते हैं, उनमें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता, काश्तकारी का प्रचलन, उत्पादक शक्तियों का पिछड़ापन, सूदखोर पूँजी की प्रधानता मुख्य हैं और यहाँ तक कि कुछ तो सामाजिक जीवन में धार्मिक और जातिगत चेतना की प्रधानता को भी अर्द्धसामन्ती थीसिस के पक्ष में एक साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ऐसे विश्लेषण अक्सर मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की विशेष श्रेणियों की शुद्धता की उपेक्षा करते हैं या उन्हें मनमाने तरीके से इस्तेमाल करते हैं। रूस में पूँजीवाद के विकास के अपने शानदार अध्ययन में लेनिन ने दिखाया है कि किस प्रकार उन्हीं आँकड़ों का प्रयोग रूस में कृषि में पूँजीवाद के विकास को सत्यापित करने के लिए किया जा सकता है जिनका प्रयोग नरोदनिक यह साबित करने के लिए कर रहे थे कि रूसी कृषि में पूँजीवाद नहीं था, और यह भी कि रूसी गाँवों की किसानी अर्थव्यवस्था में काम करने वाले तथाकथित समानतामूलक नियमों व रूसी किसान आबादी के तथाकथित समरूप/अविभेदीक्रत चरित्र के कारण रूस के विशिष्ट मामले में पूँजीवादी विकास की मंजिल को लाँघ सकना सम्भव है! लेनिन ने यह भी बताया कि कृषि में पूँजीवाद के विकास की जटिलताएँ कई प्रकार के विभ्रमों को जन्म दे सकती है। हमारी समझ में, भारत में अर्द्धसामन्ती सैद्धान्तिकीकरण मुख्य रूप से इन्हीं विभ्रमों का परिणाम है।

पूँजी, खण्ड-3 में मार्क्स कृषि में पूँजीवादी विकास और पूँजीवादी भूमि लगान के बारे में विस्तार से चर्चा करते हैं। मार्क्स दलील देते हैं कि सम्पत्ति सम्बन्धों और अधिशेष विनियोजन की पद्धतियाँ उत्पादन पद्धति को निर्धारित करती है। सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों का सार सामन्ती लगान में अभिव्यक्त होता है। सामन्ती लगान श्रम, वस्तु तथा मुद्रा तीनों रूपों में विद्यमान हो सकता है। मुद्रा लगान सामन्ती उत्पादन पद्धति के ढलान के दौर में अस्तित्व में आया क्योंकि मुद्रा परिचलन के एक विचारणीय स्तर तक विकसित होने और बाज़ार तन्त्र के साथ ही

यह अस्तित्व में आ सकता था। मुद्रा लगान ने किसानों को काफी स्वायत्तता प्रदान की क्योंकि अब वे उत्पादन और बिक्री योग्य अधिशेष बढ़ाकर पूँजी संचय कर सकते थे। फिर भी, मार्क्स स्पष्ट करते हैं कि जब तक कि भूस्वामी-भूदास सम्बन्ध विद्यमान रहते है तब तक किसी भी रूप में लगान (मुद्रा लगान भी) सामन्ती लगान ही रहता है; जबतक कृषि श्रम अमुक्त हो; सामन्ती ज़मीन्दार मुद्रा, वस्तु या श्रम के रूप में लगान वसूल करे; किसान उत्पादन-सम्बन्धित निर्णयों को लेने के लिए आज़ाद न हो; भूदास/काश्तकार/किसान उत्पादन के साधनों से अलग नहीं हुए हों; सामन्ती ज़मीन्दार विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियों के साथ वस्तुत: एक खण्डित राज्य की तरह कार्य करता हो; किसान का आर्थिकेतर उत्पीड़न मौजूद हो; और उत्पादन मुख्यत: किसान के परिवार के उपभोग के लिए किया जाता हो और अधिशेष को बदले में कुछ लिए बिना ही ज़मीन्दार के हवाले कर दिया जाता हो। मार्क्स आगे बताते हैं कि पूँजीवादी कृषि के विकास का मुख्य पैमाना कृषि सर्वहारा का निर्माण है। देहाती उजरती मज़दूरों का यह वर्ग आदिम-संचय की प्रक्रिया द्वारा निर्मित होता है, जो कि साथ ही साथ पूँजी के लिए घरेलू बाज़ार का भी निर्माण करता है। घरेलू बाज़ार का निर्माण इसीलिए होता है क्योंकि श्रम स्वयं एक माल बन जाता है, सामन्तवाद के अन्तर्गत किसानों के उपभोग के संसाधन अब विक्रय के लिए उपलब्ध होते हैं, उत्पादन के साधनों का उत्पादक से अलगाव हो चुका होता है और इसलिए उन्हें अब खरीदा और बेचा जाना होता है, और अब उत्पादन मुनाफ़े और बाज़ार के लिए किया जाता है।

कृषि में पूँजीवादी विकास के नतीजों को कुछ आँकड़ों से आसानी से समझा जा सकता है। बसु और बसोले ने आँकड़ों के ज़रिये विस्तार से दिखाया है कि समग्रता में काश्तकारी अपनी ढलान पर है। पट्टे (lease) पर भूमि देने वाले परिवारों का हिस्सा 1971-72 में 25 प्रतिशत था जो 2003 में गिरकर 12 प्रतिशत हो गया; मालिकाने वाले कुल क्षेत्रफल में पट्टे पर दी गयी भूमि का हिस्सा 1971-72 में 12 प्रतिशत से घटकर 2003 में 7 प्रतिशत हो गया; आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से पट्टे पर दी गयी जमीन का हिस्सा 1960-61 में 24 प्रतिशत था जो 2002-03 में गिरकर 10 प्रतिशत हो गया; कृषि कार्य में प्रयुक्त कुल क्षेत्रफल (total area operated) में पट्टे पर चढ़ी भूमि का हिस्सा 10.7 प्रतिशत से घटकर 2002-03 में 6.5 प्रतिशत रह गया। काश्तकारी की शर्तें दिखाती हैं कि पूँजीवादी सम्बन्ध निस्सन्देह रूप से प्रभावी बन चुके हैं। अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकार दावा कर सकते हैं कि छोटे उत्पादकों में काश्तकारी बढ़ी है। लेकिन ऐसा मामला भी नहीं है। हर आकार के प्रवर्गों (size-classes) में काश्तकार जोत का हिस्सा घटा है। वास्तव में बड़ी जोतों में काश्तकारी बढ़ी है, जो पूँजीवादी काश्तकारी के पूर्ण प्रभुत्व को दर्शाता है। 2003 में, काश्तकारी भूमियों का 70 प्रतिशत बड़ी जोतों (2.5 एकड़ से अधिक) द्वारा संचालित किया जाता था, अर्थात सभी संचालित जोतों के केवल 3 प्रतिशत द्वारा। स्थिर लगान (fixed rent) (मुद्रा रूप में और वस्तु रूप में) 2002-03 में कुल लगान का 51 प्रतिशत बनाता था, जबकि 1960-61 में वह 38 प्रतिशत था। पंजाब और हरियाणा में, जो सर्वाधिक विकसित पूँजीवादी कृषि वाले राज्य हैं, अधिकतम काश्तकारी पायी गयी। विपरीत काश्तकारी (reverse tenancy) सभी राज्यों में अब पर्याप्त रूप से विचारणीय परिघटना बन चुकी है।

कृषि में बाज़ार के प्रवेश को भी आँकड़ों के माध्यम से देखा जा सकता है। अधिकांश खाद्य फसलों में अधिशेष का 85 प्रतिशत से भी अधिक बाज़ार में पहुँच जाता है। कुल कृषि उत्पादन में किसानों के विभिन्न वर्गों द्वारा विपणित अधिशेष इस प्रकार है: प्रभावी रूप से भूमिहीन द्वारा 44 प्रतिशत; सीमान्त किसानों द्वारा 54 प्रतिशत; छोटे किसानों द्वारा 65 प्रतिशत; मध्यवर्ती किसानों द्वारा 66 प्रतिशत; और बड़े किसानों द्वारा 71 प्रतिशत। कृषि में सकल पूँजी निर्माण 1961 और 1999 के बीच 3 प्रतिशत की दर से बढ़ा है जो अपने आप में एक विचारणीय वृद्धि है। भूमिहीनता और भूमि मालिकाने की संरचना से सम्बन्धित आँकड़े स्पष्ट रूप से किसानों के विभेदीकरण और खेतिहर उजरती मज़दूरों के एक विशाल वर्ग के निर्माण को दर्शाते हैं। ये आँकड़े भारत में लागू भूमि-सुधारों की प्रकृति को भी दर्शाते हैं। हम निश्चित रूप से भूमि-सुधार के प्रशियन पथ के साक्षी बने हैं, जिसमें भूमि काश्तकारों और भूमिहीन मज़दूरों को पुनर्वितरित नहीं की गयी; पहले के सामन्ती ज़मींदारों को अपने आपको पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी या पूँजीवादी फार्मर भूस्वामी में रूपान्तरित होने दिया गया। कृषि के

बाज़ारीकरण, संस्थागत और गैर-संस्थागत पूँजीवादी ऋण प्रणाली के विकास, किसानों के विभेदीकरण, एकीकृत घरेलू बाजार के निर्माण, आदि से जुड़े प्रचुर आँकड़े मौजूद हैं।

पिछले 7 दशकों के दौरान भारतीय बुर्जुआ वर्ग के व्यवहार को किसी भी तरह से दलाल बुर्जुआ वर्ग जैसा नहीं कहा जा सकता। भारतीय राज्य एक विशेष प्रकार का उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी राज्य है जिस पर ऐसे बुर्जुआ वर्ग का कब्ज़ा है जो न तो राष्ट्रीय है, क्योंकि इसका कोई भारतीय जनता के साथ कोई साझा हित नहीं है, और न ही दलाल, क्योंकि यह राजनीतिक रूप से साम्राज्यवाद पर आश्रित नहीं है। राजनीतिक आज़ादी हासिल करने के बाद से ही स्वेज़ नहर विवाद, भारत-सोवियत मैत्री संधि के मुद्दे से लेकर कोपेनहेगेन शिखर बैठक, परमाणु अप्रसार संधि जैसे मामलों में इसने बड़े साम्राज्यवादी देशों के विरोध में जाकर अपने स्वतन्त्र राजनीतिक निर्णय लिये हैं। भारतीय बुर्जुआ वर्ग को साम्राज्यवादियों का जूनियर पार्टनर कहा जा सकता है, किसी एक साम्राज्यवादी देश का नहीं, बल्कि पूरी साम्राज्यवादी व्यवस्था का जूनियर पार्टनर। यह राजनीतिक रूप से स्वतंत्र है लेकिन आर्थिक रूप से आश्रित। जूनियर पार्टनर होने के नाते साम्राज्यवादी देशों द्वारा कभी-कभी इसकी बाँहें मरोड़ी जाती हैं, लेकिन यह अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता कभी नहीं छोड़ता है और विभिन्न साम्राज्यवादी गुटों और खेमों के बीच मोलतोल के द्वारा अपने वर्ग हितों को साधने की बाज़ीगरी बहुत कुशलता के साथ करता है।

भारत में पूँजीवादी विकास की चर्चा के बाद अब हम अफ्रीका और लातिन अमेरिका में हुए पूँजीवादी विकास का एक संक्षिप्त ब्यौरा पेश करेंगे।

अफ्रीकी महाद्वीप

इस महाद्वीप के अलग-अलग हिस्सों के अलग-अलग देशों का पूँजीवादी विकास अलग-अलग तरीकों से हुआ। औपनिवेशिक काल में दक्षिण अफ्रीका की एक विशेष औपनिवेशिक स्थिति थी जिसमें कि सेटलर उपनिवेशवाद (Settler Colonialism) के भी तत्व थे। वहाँ औपनिवेशिक काल में ही पूँजीवादी विकास शुरू हो चुका था और आज वह अफ्रीका के सर्वाधिक उन्नत उत्पादक शक्तियों वाला देश है। उत्तर औपनिवेशिक काल में अरब अफ्रीका के कुछ देशों ने भी मजबूत औद्योगिक आधारों का विकास किया। अरब-अफ्रीका और काले-अफ्रीका के संधि रेखा पर अल्जीरिया और ट्यूनीशिया जैसे मुल्क हैं जहाँ क्रान्तिकारी राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों के जरिए सत्ता में आया बुर्जुआ वर्ग तेजी से पूँजीवादी विकास की राह पर आगे बढ़ा।

जब काले अफ्रीका के औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई तो यहाँ के देशों में विभिन्न प्रकार के प्राक्-पूँजीवादी वर्ग समाज और कुछेक देशों में कबीलाई समाज मौजूद थे। उपनिवेशवादियों ने यहाँ विशाल फ़ार्म बनाए, खदानें खोदीं और संचार के साधन विकसित किए ताकि इन देशों की संपदा का व्यवस्थित ढंग से दोहन किया जा सके। इस तरह अफ्रीका का औद्योगिकीकरण औपनिवेशिक दौर में ही शुरू हो गया था जिसमें प्रथम विश्व-युद्ध और फिर 1930 के दौर में सोने के दामों में हुई वृद्धि ने एक भूमिका निभाई।

मार्टेन जर्वेन ने 'हिस्टॉरिकल पैटर्न्स ऑफ़ इकॉनॉमिक ग्रोथ इन अफ्रीका: अ रिव्यू' में बताया है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान और उसके बाद अफ्रीका के लगभग सभी उपनिवेशों में एग्रीकल्चर मार्केटिंग बोर्ड का गठन किया गया था। बीज व खेती संबंधी अन्य सहायता मुहैया कराने वाली इन संस्थाओं का मुख्य मक़सद कृषि पैदावार के दामों को स्थिर बनाए रखने में मदद करना था और ये संस्थाएँ खेती के अतिरिक्त मूल्य को शासक वर्ग की ओर स्थानांतरित करने वाली संस्थाओं की भूमिका निभाती थीं। अफ्रीका के नव-स्वाधीन देशों के शासक वर्गों ने इन संस्थाओं को बनाए रखा और शुरुआती पूँजी संचय के लिए इनका इस्तेमाल किया। इसके साथ ही नव-स्वाधीन देशों के शासक वर्ग ने आयात प्रतिस्थापन औद्योगिकीकरण का

रास्ता अपनाते हुए एक हद तक अपने औद्योगिक आधारों का निर्माण किया। इसमें केन्या, घाना, तंजानिया, नाइजीरिया और दक्षिण अफ्रीका का उदाहरण उल्लेखनीय है।

अफ्रीका में बढ़ रहे बैंक पूँजी के बाज़ार और अवरचनागत ढाँचे के विस्तार संबंधी आंकड़ों से पता चलता है कि दुनिया के इस भूभाग में पूँजी ने अपनी निर्णायक पैठ बना ली है। मैकेंज़ी की एक रिपोर्ट के अनुसार 2008 में सब सहारा अफ्रीका का उभरते बैंक बाज़ार में महत्वपूर्ण स्थान था जिसकी कुल परिसंपत्ति 669 बिलियन डॉलर थी, इसके बाद उत्तरी अफ्रीका था जिसकी परिसंपत्तियों की कुल कीमत 497 बिलियन डॉलर थी। इसी रिपोर्ट के अनुसार सहारा अफ्रीका में वर्ष 2005 से 2008 के बीच उपभोक्ता खर्च 16 प्रतिशत सीएजीआर (CAGR: Compound Annual Growth Rate) से बढ़ा जो जीडीपी की वृद्धि के दुगने से भी अधिक है।[16]

यह सच है कि अफ्रीका में पूँजीवादी विकास की रफ़्तार काफ़ी धीमी रही है लेकिन यह महाद्वीप निरंतर इस दिशा में बढ़ता रहा है और नवउदारवाद के दौर में यह रफ़्तार काफ़ी बढ़ गई है। सामाजिक-आर्थिक आंकड़े बताते हैं कि शहरीकरण की गति के मामले में अफ्रीका दुनिया में सबसे आगे है। उत्तरी अफ्रीका की आबादी का 59.4% शहरी हो चुका है। अकेले अल्जीरिया की 66.5% और लीबिया की 77% आबादी शहरों में रहती है। दक्षिण अफ्रीका की शहरी आबादी का प्रतिशत 61.7 है, हालाँकि पश्चिम अफ्रीका में यह 39.6% के स्तर पर ही पहुँच पाया है लेकिन यहाँ नाइजीरिया जैसा देश भी है जहाँ की आबादी का 59.8% शहरी हो चुका है.[24]

लातिन अमेरिका

औद्योगिक विकास

1930 के दशक की महामंदी और द्वितीय विश्वयुद्ध ने कुछ समय के लिए लातिन अमेरिका पर अमेरिकी साम्राज्यवाद की पकड़ को कमज़ोर बना दिया था। इस दौरान लातिन अमेरिका के कुछ बड़े मुल्कों ख़ासकर मेक्सिको, अर्जेंटीना और ब्राज़ील तथा एक हद तक कोलंबिया, पेरू, चिली आदि ने इस मौके का भरपूर लाभ उठाया और अपनी आर्थिक नीतियों का जोर घरेलू बाज़ार के विस्तार तथा आयात प्रतिस्थापन औद्योगिकीकरण पर बढ़ा दिया। शीत युद्ध के समय अमेरिकी साम्राज्यवाद ने नवउपनिवेशवादी नीतियों पर जोर बढ़ाया और इसी के साथ लातिन अमेरिका में सैनिक जुन्ताओं का एक दौर आया जिसमें पूँजीवादी विकास तो जारी रहा लेकिन राज्यसत्ता के एजेण्ट चरित्र के कारण अतिरिक्त मूल्य व्यवस्थित रूप से अमेरिका की ओर स्थानान्तरित होता रहा। कालांतर में बुर्जुआ जनवादी सत्ताएँ कायम होने के साथ ही ये देश पूँजीवादी विकास की दिशा में उत्तरोत्तर आगे बढ़ते गये।

इस दौरान इन देशों में पूँजीगत माल उद्योग की भारी तरक्की हुई। अर्जेंटीना ने रेल और पेट्रो-केमिकल उद्योग का राष्ट्रीकरण किया तथा स्टील उद्योग के निर्माण में भारी बढ़ोत्तरी हुई। यही वह समय था जब ब्राज़ील और वेनेज़ुएला ने भी अपने-अपने तेल उद्योग का राष्ट्रीकरण किया। इन देशों ने आपसी सहकार और सहयोग की नीति पर बल देते हुए अपनी अर्थव्यवस्थाओं को एक-दूसरे के साथ घनिष्ठतापूर्वक जोड़ने वाले कई कदम उठाए। इसके परिणामस्वरूप लैटिन अमेरिकन फ्री ट्रेड एसोसिएशन, सेंट्रल अमेरिकन कॉमन मार्केट और ऐंडियन समूह (Andean Group) अस्तित्व में आए। इन देशों में पूँजीवादी विकास का यह दौर अपनी स्वाभाविक आतंरिक गति से 1980 के दशक तक ठहरावग्रस्त हो गया। यह लातिन अमेरिका में संगठित मजदूर आंदोलन का भी दौर था। अब इन मुल्कों के पूँजीपति वर्ग की यह ज़रुरत बन चुकी थी कि पूँजी संचय के चक्र को आगे बढ़ाने के लिए नवउदारवादी नीतियों को लागू किया जाए और इसी के साथ लातिन अमेरिका नवउदारवादी नीतियों की पहली प्रयोगशाला बना।

कृषि में पूँजीवादी विकास

इस महाद्वीप पर भूमि सुधार की प्रक्रिया का इतिहास 20वीं शताब्दी के शुरुआती दशक से आरंभ होता है। सुधार और फिर पीछे लौटने की जटिल और उतार-चढ़ाव भरी गति यहाँ के भूमि सुधारों की विशेषता रही है। इस महाद्वीप पर पहला व्यापक भूमि सुधार 1910 में शुरू हुई मेक्सिको की क्रान्ति से आरंभ हुआ जिसने कई दशकों के दौरान टुकड़ों-टुकड़ों में आगे बढ़ते हुए 1930 के दशक में व्यापक उभार का स्वरूप ग्रहण किया। क्रान्ति-पूर्व मेक्सिको में आधे से अधिक भूमि पर लगभग 1000 भूस्वामी परिवारों और कॉर्पोरेशनों का कब्ज़ा था। उस समय इस देश की आबादी 1.6 करोड़ थी जिनमें दो तिहाई से अधिक लोग खेतीबाड़ी से जुड़े थे। 1995 में यहाँ की आबादी 9.5 करोड़ थी और एक चौथाई लोग ही खेतीबाड़ी के कामों में लगे थे। यह बदलाव अपने आप में मेक्सिको में हुए पूँजीवादी रूपांतरण के बारे में काफ़ी कुछ बता देता है।

चिली में 1970 के दशक में अयेंदे के समय व्यापक भूमि सुधार हुआ। उस समय पहले से चली आ रही भूमि सुधार की प्रक्रिया ने क्रान्तिकारी स्वरूप अख्तियार किया और भू-स्वामी वर्ग की ज़मीनों पर बिना मुआवज़ा दिए किसानों द्वारा कब्ज़ा किया गया। हालाँकि अयेंदे की सरकार के पिनोशे द्वारा प्रतिक्रियावादी तख्तापलट के बाद इन सुधारों को एक हद तक वापस भी लिया गया लेकिन अंतिम परिणाम यह रहा कि कुल खेती योग्य भूमि का एक तिहाई हिस्सा छोटे मिल्कियों के हाथ में आ गया।

वेनेज़ुएला में भी 1960 के दशक में भूमि सुधार हुआ। यहाँ राज्य ने तेल निर्यात से होने वाली आय के सहारे भूस्वामी वर्ग को भारी मुआवज़ा दिया और किसानों में भूमि वितरण किया। ब्राज़ील में सरकार ने खेती के राजकीय संसाधनों को बड़े पैमाने पर निर्यातक किसानों, कॉर्पोरेशनों और खेती से जुड़े बड़े उद्योगों के हवाले करके कृषि क्षेत्र को पूरी तरह से बड़ी पूँजी के मातहत कर दिया।

इन परिवर्तनों के साथ ही पूरे लातिन अमेरिका में खेती और इससे जुड़े उद्योग का स्वरूप पूरी तरह बदल चुका है और आज वहाँ की खेती वैश्विक अर्थव्यवस्था का अंग बन चुकी है। अर्जेंटीना, ब्राज़ील, बोलीविया और पैराग्वे में कॉफ़ी, गन्ना और सोया की खेती परंपरागत खेती पर निर्णायक रूप से हावी हो चुकी है और वैश्विक बाज़ार की सप्लाई-लाइन से जुड़ गई है। इसी तरह मेक्सिको में मक्का, फलियाँ और अन्य फसलों की परंपरागत खेती, जो मुख्यत: घरेलू बाज़ार की ज़रूरतों को पूरा करती थी, का स्थान अब बड़े पैमाने पर फल और सब्जियों ने ले लिया है जिन्हें मुख्य रूप में वैश्विक बाज़ारों तक सप्लाई किया जाता है।

लातिन अमेरिका में राष्ट्रपारीय (trans-national) कॉर्पोरेट एग्री-बिज़नस का यह रूप पुराने सामंती उत्पादन संबंधों का नहीं बल्कि पूँजीवादी उत्पादन संबंधों का परिचायक है।

इस महाद्वीप में हुए पूँजीवादी विकास के परिमाण का अंदाज़ा इसी तथ्य से लग जाता है कि सदी के शुरू में महाद्वीप की कुल आबादी का 80% हिस्सा शहरों में रह रहा था और अनुमानित तौर पर 2050 तक 90% लोग शहरी हो जाएँगे।

विश्व स्तर पर आज के बुनियादी अंतरविरोध

देखा जा सकता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक नई दुनिया अस्तित्व में आ चुकी थी। 1980 का दशक आते-आते भूतपूर्व औपनिवेशिक और नव-औपनिवेशिक देशों में राजनीतिक आज़ादी के लिए संघर्ष के कार्यभार कमोबेश पूरे हो जाने के साथ-साथ इन देशों का पूँजीपति वर्ग शासक वर्ग में रूपांतरित हो चुका था और उसने अपनी सत्ता का सुदृढ़ीकरण कर लिया था। इनमें से कई मुल्क तेज़ी से आर्थिक विकास करते हुए नव उदारवादी दौर में पूँजी संचय के महत्वपूर्ण केंद्र बनकर उभरे हैं। औपनिवेशिक काल तक इतिहास ने इस नवोदित शासक वर्ग को दूसरे उत्पीड़ित वर्गों के साथ जोड़ रखा था लेकिन अब इस नवोदित शासक वर्ग के वर्ग हितों का तकाज़ा था कि वह उत्पीड़ित वर्गों के साथ उसके पुराने ऐतिहासिक संबंध को उलटते हुए स्वेच्छा से विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में शामिल हो जाए। उनके लिए अब यह संभव न था कि अपने-अपने देशों के भीतर पूँजीवादी व्यवस्था को खड़ा करते हुए विश्व स्तर पर साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ खड़े हों। अब वे ज़्यादा से ज़्यादा यही आकांक्षा

कर सकते थे कि विश्व के पैमाने पर अतिरिक्त मूल्य के बँटवारे में उनका हिस्सा बढ़े। अपनी इस लक्ष्य सिद्धि के लिए उन्होंने अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा, जिसमें सोवियत साम्राज्यवाद भी शामिल हो चुका था, का भरपूर इस्तेमाल करते हुए साम्राज्यवादी देशों के जूनियर पार्टनर की भूमिका में व्यवस्थित हो जाने की नीति अपनाई।

आज एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के तमाम देश न सिर्फ देशी पूँजीपतियों बल्कि पूरी दुनिया के पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के लिए सस्ते श्रम की सप्लाई के विराट केंद्र बन कर उभर चुके हैं। अमेरिकी अर्थव्यवस्था के गहराते संकट की पार्श्वभूमि में चीन के उभार और चीन-रूस की उभरती धुरी ने एकध्रुवीय विश्व के मिथक को तोड़ दिया है। आज चीन अमेरिकी वर्चस्व को चुनौती दे रहा है और रूस ने स्वयं को एक ऐसी क्षेत्रीय महाशक्ति के रूप में पुनर्संयोजित किया है जिसके पास विश्व राजनीति को प्रभावित करने की क्षमता है। एकाधिकारी संरक्षित बाज़ारों के खात्मा हुआ है और इजारेदार पूँजी राष्ट्रपारीय निगमों (Transnational Corporations) के नये रूप में प्रकट हुई है और साथ ही 'उपनिवेशविहीन साम्राज्यवाद' की परिघटना सामने आयी है। इन नई परिस्थितियों ने भले ही किसी विश्वयुद्ध की संभावना को कम कर दिया हो लेकिन फिर भी तात्कालिक और दूरगामी भू-राजनीतिक और आर्थिक हितों के प्रभाव क्षेत्र और उनके लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा आज भी कायम है। दक्षिण चीन सागर, मध्य-पूर्व, पूर्वी यूरोप और लातिन अमेरिका में इस अंतरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा को देखा जा सकता है। इन अर्थों और सन्दर्भों में आज अफ्रीका चाहे जितना शांत नज़र आता हो लेकिन भविष्य में इसके भी अंतरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के भंवर में पड़ने की प्रबल संभावना है। आज के साम्राज्यवाद की ये वे अभिलाक्षणिकताएँ हैं जो लेनिनकाल में भी एक अलग रूप में मौजूद थीं। सर्वहारा क्रान्ति की हिरावल शक्तियों के समक्ष आज एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि तीसरी दुनिया के वे तमाम देश जो साम्राज्यवादी उपनिवेशवाद और नव-उपनिवेशवाद के दौर में क्रान्तिकारी तूफानों का केंद्र बने हुए थे और विश्व सर्वहारा क्रान्ति का अभिन्न अंग थे, क्या आज भी उनकी क्रान्तिकारी अवस्थिति का संदर्भ-चौखटा वही है जो पिछली सदी के दौरान था या उसमें गुणात्मक परिवर्तन हो चुका है?

हम आज भी साम्राज्यवाद के युग में ही जी रहे हैं। लेकिन साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली, बुनियादी संरचना और इजारेदारी के नये रूप पैदा होने और परिणामस्वरूप अंतरराष्ट्रीय समीकरणों और संतुलनों में अहम बदलाव आने के कारण, इन की गम्भीर समीक्षा व विश्लेषण के बिना आज के दौर की सर्वहारा क्रान्तियों के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता है। कुछ लोग यह समझते हैं कि लेनिनकालीन साम्राज्यवाद की थीसिस को मानने का अर्थ यह है कि क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल अपरिवर्तनीय रहते हैं, मानो दुनिया एक जगह थम गई हो। अपने युग की ठोस सच्चाइयों का अध्ययन करने और वहाँ से कार्यभार निगमित करने के महत्वपूर्ण कार्य की अनदेखी करते हुए ऐसे लोग जीवन से सूत्रीकरण निगमित करने के बजाए सूत्रों से जीवन निगमित करने की कठमुल्लावादी नीति अपनाते हैं। यही वजह है कि वे आज की ज़मीनी सच्चाइयों को चीन की पार्टी द्वारा 1963 में प्रतिपादित विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के सूत्रीकरणों में फिट करने के लिए तोड़ते-मरोड़ते हैं। उनकी मुख्य समस्या यह है कि उन्होंने कार्यक्रम को ही विचारधारा मान लिया है। पुरानी रटी-रटाई बातों को दुहराते हुए वे दावा करते हैं कि वैश्विक धरातल पर साम्राज्यवाद और उत्पीड़ित राष्ट्रों के बीच का अंतरविरोध आज की दुनिया का प्रमुख अंतरविरोध बना हुआ है। उनका दावा है कि भारत जैसे देशों में साम्राज्यवादी ताकतें बड़े जमींदारों और दलाल नौकरशाह पूँजीपति वर्ग के साथ गठजोड़ बनाकर आम जनता का शोषण-उत्पीड़न करती हैं और भारत सहित तीसरी दुनिया के तमाम देशों में नव जनवादी क्रान्ति को पूरा किए बिना साम्राज्यवाद और उत्पीड़ित राष्ट्रों के अंतरविरोध को हल नहीं किया जा सकता है। इसी से वे निष्कर्ष निकालते हैं कि जब तक यह अंतरविरोध कायम है तब तक राष्ट्रीय मुक्तियुद्ध विश्व सर्वहारा क्रान्ति के अभिन्न अंग बने रहे रहेंगे।

1980 के दशक तक आते-आते उपनिवेशवाद और नव-उपनिवेशवाद के इतिहास की कचरा पेटी में चले जाने के साथ ही दुनिया के पैमाने पर राष्ट्रीय प्रश्न मूलत: और मुख्यतः हल हो चुका था। इन मुल्कों में स्वतंत्र पूँजीवादी आधारों वाला एक ऐसा बुर्जुआ वर्ग सत्तासीन हुआ जो विकसित पूँजीवादी देशों से सापेक्षत: आर्थिक रूप से कमज़ोर होते हुए भी राजनीतिक रूप से स्वतंत्र था। अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता को बनाए रखने और उसे विस्तारित करने के लिए इसने अंतर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का भरपूर लाभ उठाया। अगर हम भारत का ही उदाहरण लें तो उसकी विदेश नीति के इतिहास में ऐसे

कई मुकाम आते हैं जब उसने साम्राज्यवादी दबाव की अनदेखी करते हुए स्वतंत्र फैसले लिए। इस प्रकार का बुर्जुआ वर्ग अपने हितों के अनुरूप साम्राज्यवाद से गठजोड़ करता है, उसे रियायतें भी देता है लेकिन ज़रूरत पड़ने पर स्वतंत्र फैसले भी लेता है। नव उदारवादी दौर में कई पूर्व औपनिवेशिक देशों को तेज़ गति से पूँजीवादी विकास का मौका मिला और आज वे अपने हितों की रक्षा के लिए अमेरिकी साम्राज्यवाद से कठोर मोलतोल करते हैं। इन पूर्व उपनिवेशों के शासक बुर्जुआ वर्ग का साम्राज्यवाद से जो अन्तरविरोध है वह विश्व राजनीति की कई घटनाओं में तीखे रूपों में भी अभिव्यक्त होते देखा गया है। ऐसे बुर्जुआ वर्ग को साम्राज्यवाद के दलाल के रूप में देखना सर्वथा हास्यास्पद है।

तीसरी दुनिया के मुल्कों के बुर्जुआ वर्ग की एक अन्य विशेषता है। राष्ट्रीय जनवादी कार्यभार के पूरा होने के साथ ही यह वर्ग, उन देशों में भी जहाँ इसका सर्वाधिक क्रान्तिकारी चरित्र था, अपना पक्ष बदल चुका था और विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का अंग बनकर साम्राज्यवाद के साथ अपने अन्तरविरोधों के बावजूद उसके जूनियर पार्टनर की भूमिका में व्यवस्थित हो गया था। आज इन देशों में बुर्जुआ वर्ग का कोई भी हिस्सा क्रान्तिकारी जनसंघर्षों का रणनीतिक संश्रयकारी नहीं रह गया है। अगर हम भारत में ही देखें तो आज का बुर्जुआ वर्ग और उसके तमाम संस्तर शासन की दमनकारी नीतियों के साथ और मेहनतकश जनता के विरोध में मजबूती से खड़े हैं। ऐसे में यह उम्मीद करना कि साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्षों में बुर्जुआ वर्ग आम जनता का सहयोगी वर्ग होगा, राजनीतिक मोतियाबिंद के सिवाय और कुछ भी नहीं है। इतिहास का तथ्य यह है कि नव-स्वाधीन देशों के बुर्जुआ वर्ग द्वारा साम्राज्यवादी देशों के जूनियर पार्टनर की भूमिका में व्यवस्थित हो जाने के साथ पूरी दुनिया के पैमाने पर **पूँजी और श्रम का अंतरविरोध प्रमुख अंतरविरोध बन चुका है।** यह अंतरविरोध स्वयं को दो विविध रूपों में अभिव्यक्त कर रहा है। पहला, उन्नत पूँजीवादी देशों में पूँजी और श्रम का अंतरविरोध। दूसरा, उत्तर-औपनिवेशिक देशों में उभरा पूँजी और श्रम का अंतरविरोध। उत्तर औपनिवेशिक देशों में मौजूद पूँजी और श्रम के अंतरविरोध की विशेषता यह है कि यहाँ पर श्रम का देशी पूँजी और साम्राज्यवादी पूँजी दोनों के साथ अंतरविरोध है।

तीसरी दुनिया के मुल्कों में उत्तर-औपनिवेशिक काल में खेतीबाड़ी में हुए पूँजीवादी विकास के कारण किसान आबादी का तेज़ी से विभेदीकरण हुआ है। अगर हम ग्रामीण भारत का उदाहरण लें तो वहाँ धनी, मँझोले व गरीब एवं तबाह होते हुए किसानों का विभेद स्पष्ट देखा जा सकता है। इसके साथ ही स्वतंत्र भारत के इतिहास में यह पहली बार हुआ है कि ग्रामीण सर्वहाराओं की आबादी किसानों की आबादी से अधिक हो चुकी है। खेतीबाड़ी में पूँजी निर्माण के आँकड़े बताते हैं कि भारतीय खेती में पूँजी निर्माण उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया है। स्पष्ट है कि ग्रामीण भारत का वर्ग अंतरविरोध सामंत और अधीनस्थ किसान वर्ग का अंतरविरोध नहीं है बल्कि वह भी पूँजी और श्रम के अंतरविरोध में क्रमिक रूप से ही सही लेकिन निर्णायक तौर पर बदल चुका है। पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया में पैदा हुआ कुलक और फ़ार्मर (धनी किसान) का देशी या साम्राज्यवादी पूँजी से चाहे जितना अंतरविरोध हो लेकिन वह देश स्तर पर होने वाले अधिशेष विनियोजन का हिस्सेदार है और सत्ता का कनिष्ठ भागीदार है। तमाम उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में कमोबेश ऐसे ही हालात पैदा हो चुके हैं और कहीं पर भी नव जनवादी क्रान्ति के चार वर्गों के रणनीतिक मार्चे की लाइन लागू नहीं होती है। ऐसे में जो लोग सामंती भूमि संबंधों की रट लगाए हुए हैं वे अनजाने ही, न चाहते हुए भी, वस्तुत: भारतीय क्रान्ति की मनोगत शक्तियों के विकास में बाधा पहुँचाने का ही काम कर रहे हैं।

उपनिवेशवाद और नव-उपनिवेशवाद के खात्मे तथा नव-स्वाधीन देशों में हुए पूँजीवादी विकास ने राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय स्तर पर रणनीतिक वर्ग संश्रय के चरित्र को निर्णायक रूप से बदल दिया है। राष्ट्रीय-औपनिवेशिक प्रश्न के हल होने के साथ ही साम्राज्यवाद बनाम उपनिवेशों एवं अर्ध-उपनिवेशों के बीच का अंतरविरोध भी समाप्त हो गया। इस तरह राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का दौर खत्म होने के साथ ही विश्व सर्वहारा क्रान्ति के उस दौर का भी समापन हो चुका है जब राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष उसका एक संघटक अवयव हुआ करते थे। लेनिनकालीन साम्राज्यवाद के दौर में सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल और आज के साम्राज्यवाद के दौर में इस रणनीति और आम रणकौशल के बीच इसस एक महत्त्वपूर्ण अंतर आ गया है। साम्राज्यवाद बनाम उपनिवेशों एवं अर्ध-उपनिवेशों के अंतरविरोध का स्थान, साम्राज्यवाद बनाम उत्तर-

औपनिवेशिक दुनिया के बुर्जुआ शासकों के बीच के दोस्ताना अंतरविरोध और इन देशों में श्रम और साम्राज्यवादी तथा देशी पूँजी के गठजोड़ के बीच के शत्रुतापूर्ण अंतरविरोध ने ले लिया है।

साररूप में कहा जा सकता है कि आज की दुनिया के तीन बुनियादी अंतरविरोध हैं:

1) पूँजी और श्रम का अंतरविरोध – यह अंतरविरोध स्वयं को दो रूपों में अभिव्यक्त कर रहा है। इसका एक रूप वह है जो दुनिया के उन्नत पूँजीवादी मुल्कों में मौजूद है और इसका दूसरा रूप उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में देखा जा सकता है जहाँ यह देशी-विदेशी पूँजी के गठजोड़ और श्रम के बीच के अंतरविरोध के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। पूँजी और श्रम के बीच का अंतरविरोध ही आज का प्रमुख अंतरविरोध भी है।

2) अंतरराष्ट्रीय इजारेदारियों के बीच और साम्राज्यवादी देशों के बीच प्रतिस्पर्धा

इन दो बुनियादी अन्तरविरोधों के साथ एक विशिष्ट स्थिति भी मौजूद है जिसके कारण कुछ क्षेत्रों में कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक और भू-राजनीतिक कारणों से कुछ सापेक्षत: कम विकसित पूँजीवादी देशों के पूँजीपति वर्ग का साम्राज्यवाद के साथ अन्तरविरोध उग्र रूप में अभिव्यक्त होते नज़र आता है, मसलन कुछ लातिन अमेरिकी देश, मध्य-पूर्व के कुछ देश और उत्तर कोरिया। यह बात दीगर है कि ये देश इन अन्तरविरोध के उग्र होने की सूरत में अक्सर वर्चस्वकारी साम्राज्यवाद के बरक्स उभरती साम्राज्यवादी धुरी के साथ गठजोड़ करके खड़े होते हैं।

पिछली आधी से ज़्यादा सदी के दौरान हुए महत्वपूर्ण परिवर्तन बताते हैं कि आज दुनिया में कुछ अपवादों को छोड़ दें तो नव जनवादी क्रान्ति की मंज़िल कहीं भी नहीं रह गई है। यह कठमुल्लावादी मत कि चूंकि लेनिन और माओ ने जनवादी क्रान्ति को विश्व समाजवादी क्रान्ति का अभिन्न अंग कहा था अत: हम आज भी वैसा ही मानते रहेंगे – क्रान्तिकारी वामधारा के एक बड़े हिस्से के वैचारिक दीवालियेपन को ही दर्शाता है। वस्तुगत परिस्थितियों की दृष्टि से हमारा स्पष्ट मत है कि साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी नई सर्वहारा क्रान्तियों की सर्वाधिक उर्वर और संभावनासम्पन्न ज़मीन एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के उन पिछड़े पूँजीवादी देशों में है जहाँ प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन संबंध मूलत: और मुख्यत: टूट चुके हैं, और यदि हैं भी तो अवशेष रूप में ही मौजूद हैं, जहाँ पूँजीवादी उत्पादन संबंधों का निर्णायक वर्चस्व स्थापित हो चुका है। इन देशों में एक विविधीकृत अर्थव्यवस्था अस्तित्व में आ चुकी है जहाँ बुनियादी एवं अवरचनागत उद्योगों सहित औद्योगिक उत्पादन का भारी विकास हुआ है। यहाँ गाँव में पूँजी की व्यापक पैठ के साथ ही ग्रामीण सर्वहारा एवं अर्द्ध-सर्वहारा आबादी की संख्या में भारी वृद्धि हुई है। इन देशों में पूँजीवादी सामाजिक-सांस्कृतिक विकास के चलते सर्वहारा क्रान्ति के सहयोगी शिक्षित निम्न मध्य वर्ग और बुद्धिजीवी समुदाय का प्रचुर विकास हुआ है। श्रम और पूँजी के लगातार तीखे होते अंतरविरोध के चलते इन देशों में साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी समाजवादी क्रान्ति की स्थिति उत्पन्न हुई है जोकि आज के साम्राज्यवाद के दौर को लेनिनकालीन साम्राज्यवाद के दौर से अलग करती है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती है।

क्रान्ति के तूफानों का केंद्र आज भी एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका ही बने हुए हैं लेकिन यहाँ क्रान्ति की मंजिल बदल चुकी है। ये देश आज पूँजीवादी देश हैं और इन देशों में कोमिन्टर्न द्वारा प्रतिपादित जनता की जनवादी क्रान्ति की कार्यदिशा या चीन की पार्टी द्वारा प्रतिपादित '1963 की आम दिशा' नहीं लागू होती है।

संदर्भ सूची

[1] लेनिन, व्ला. इ., 1985, *''वामपंथी'' कम्युनिज़म एक बचकाना मर्ज़,* प्रगति प्रकाशन, सोवियत संघ, पृ. 7

[2] स्तालिन, जे. वी., 2004, प्रथम संस्करण, *लेनिनवाद के मूल सिद्धांत*, राहुल फाउण्डेशन, पृ. 25-26

[3] लेनिन, व्ला. इ., 1985, *''वामपंथी'' कम्युनिज़म एक बचकाना मर्ज़,* प्रगति प्रकाशन, सोवियत संघ, पृ. 7

[4] लेनिन, व्ला. इ., 1964, प्रथम संस्करण, लेटर्स फ्रॉम अफ़ार, फर्स्ट लेटर, **'दि फर्स्ट स्टेज ऑफ दि फर्स्ट रेवोल्यूशन'**, *लेनिन कलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड 23, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, पृ. 300-302, *अनुवाद हमारा*

[5] लेनिन, व्ला. इ., 1984, *अंतरराष्ट्रीय मज़दूर और कम्युनिस्ट आंदोलन*, प्रगति प्रकाशन, सोवियत संघ, पृ. 181-2

[6] लेनिन, व्ला. इ., **'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर थीसिसों का प्राथमिक आलेख',** कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस के लिए, *पूर्व में राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आंदोलन,* विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को, पृ. 337

[7] दि रिपोर्ट ऑफ़ दि कमीशन ऑन दि नेशनल एंड कोलोनियल क्वेश्चन, जु. 26, 1920

[8] http://www.marxists.org/history/international/comintern/baku/to-workers.htm

[9] https://www.marxists.org/reference/archive/stalin/works/1925/12/18.htm

[10] https://www.marxists.org/reference/archive/stalin/works/1925/12/18.htm

[11] 2004, द्वितीय संस्करण, महान बहस, अंतरराष्ट्रीय प्रकाशन, पृ. 4

[12] 2004, द्वितीय संस्करण, महान बहस, अंतरराष्ट्रीय प्रकाशन, पृ. 4

[13] https://www.marxists.org/reference/archive/lin-biao/1965/09/peoples_war/ch09.htm

[14] https://www.marxists.org/reference/archive/lin-biao/1965/09/peoples_war/introduction.htm

[15] https://www.marxists.org/Reference/archive/lin-biao/1965/09/Peoples_war/ch07.htm

[16] 2004, प्रथम संस्करण, महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति – चुने हुए दस्तावेज और लेख, खण्ड एक, राहुल फाउंडेशन, पृ. 128-129